ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. No.- 231-233

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- I, Issues-27, YEAR- Jan.-March-2023

अपराध और धर्म तथा प्रथा (एक समाजशास्त्रीय अध्ययन)

डॉ0 अशोक कुमार

एम0ए0–समाजशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय पी–एच0डी0, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार) भारत

Received-18.02.2023, Revised-23.02.2023, Accepted-28.02.2023 E-mail: akbar786ali888@gmail.com

***सारांशः** अपराध और धर्म– परिस्थितियों में जो उल्लंघन परिभाषित रहता है, वही अपराध होता है, यद्यपि अपराध से परिनियमों के परे उल्लंघन का भी बोध किया जा सकता है, दूसरा यह कि संज्ञेय या असंज्ञेय, संगीन या साधारण, रईसी या व्यावसायिक श्रेणियों में अपराध का विभेद भले ही दंड की विभिन्नता को लेकर विशेष बोधगम्य हो परंतु सभी अपराध ही होते हैं और तीसरा यह कि अपराधों के सर्वाधिक निरूपण में मात्र विधि की अपेक्षाओं का ही नहीं समाज के अन्य नियंत्रक संगठनों की मान्यताओं का भी विपुल योग रहता है।*

कुंजीभूत शब्द– अपराध और धर्म, अपराध, परिनियमों, उल्लंघन, असंज्ञेय, व्यावसायिक श्रेणियों, निरूपण, विपुल योग।

डच अपराध वैज्ञानिक वियांची ने यहाँ तक कह डाला है कि प्रत्येक अपराध ईश्वर के प्रति अनाचरण होता है। किसी भी धर्म में दोष का भाव प्रधान होता है और जिसे हम विधिक शब्दावली में अपराध कहते हैं, उसका ही पर्याय, एक प्रकार से धार्मिक शब्दावली में पाप है। दोष के परिमार्जन और पाप के निराकरण हेतु प्रायश्चित का विधान है। जब कोई 'पाप' करता है, तब इसके दुष्परिणामों या कलंक से निवृत्त होने के लिए वह धार्मिक निदेशों के अनुसार कुछ क्रियाएँ करता है, पाप की स्वीकारोक्ति कर इसका निदान करता है, शारीरिक और मानसिक यातनाएँ तथा अनेकानेक कष्ट तथा भोग कर अपने को निर्मल करता है। पाप और पाप–निवृत्ति के इस निरूपण एवं विधान का ही विधिक विन्यास अपराध तथा दंड विधान है। अर्थात् अपराधी को दंडित कर जो परिष्कार करने की व्यवस्था है, उसे सत्ता द्वारा जो यातना दी जाती है, वह धर्म के मूल तत्त्व, पाप और दोष की धारणा पर ही आधारित है। ईसाई धर्म में तो दोष की ऐसी धारणा अत्यंत प्रबल है।

यह कहना कि आज के धर्मनिरपेक्ष मानव–समाज में कोई धर्मनिरपेक्ष विधायक या अनिश्वरवादी अपराध– वैज्ञानिक धर्म की मूल प्रेरणाओं से अपराध को असंपृक्त रख सकता है सही नहीं होगा, इन्हें भी धर्म के मान–मूल्यों से अपराध–विवेचनों को अर्थ–संपन्न करना पड़ता ही है। धर्म की तात्त्विक मान्यताओं को ग्रहण करने के लिए प्रमुख कारण भी हैं।[1] एक, वर्त्तमान अपराध–वृद्धि का कारण धर्म के प्रभाव का क्षीण हो जाना बताया जाता है, दूसरा, दंड का विधान मनुष्य के अपकर्म के धार्मिक शुद्धीकरण में मननीय है और तीसरा, धर्म द्वारा भी अपराध का नियंत्रण संभाव्य है।

किसी राज्य के अधिनियम पर उसके जनवासियों के धर्मावलंबनों का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद धर्मनिरपेक्ष भारत में प्रबल जनमत के आधार पर गौ के सामान्य वध को अवैध करार दिया गया है, लोगों की जितनी माँग थी उतनी दूर तक अधिनियमन नहीं हुआ, परंतु एक विशेष अधिनियम के द्वारा गौ–वध को विधिक मान्यताओं की मात्रा में जघन्य कर दिया गया। अरब और यहूदी राष्ट्रों में बहुत से अपराधों का स्रोत धार्मिक मान्याताएँ ही हैं।

पर, धर्म ही अपराधों को पारिभाषित करता है, यह सर्वथा मान्य नहीं। स्पृश्यता की मान्यताएँ भारत में व्यापक रूप में जमी हुई हैं। शास्त्रों के स्पृश्यता प्रसंग में ये बरकरार भी रही हैं। फिर भी, धर्मनिरपेक्ष भारत के एक संज्ञेय अपराध घोषित कर डाला है। अर्थात् जहाँ ईसा मसीह को शूली पर दंड यहूदी धर्म के नियमों के प्रवर्तक में दिया गया था, वहाँ धार्मिक नियमों के प्रतिकूल भी विधिकरण किया जाता है।

प्रश्न यह है कि अपराध और पाप एक ही है? अतएव, क्या आपराधिक विधि पापमय कार्यों की तालिका मात्र होनी चाहिए। सन् 1861 ईं में मेन ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि कानून धर्म से ही बने हैं।[2] इसके अनुसार अपराध से समुदाय विषाक्त हो जाता है, अर्थात् धर्म–परायण समाज अपराध से ग्रसित नहीं होता और धर्मच्युत समाज अपराध से जर्जर रहता है। इस सिद्धांत का डायमंड तथा विलियम सींग्ल आदि ने खंडन कर डाला है।[3] इनके अनुसार, आदि मानव समाज में एक मानव का दूसरे मानव के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए, इस प्रकार की न योजना, न शृंखला ही थी और बहुत–सी मानवीय क्रियाएँ पराशक्तियों के वश में घटित होती दीख पड़ती थीं और हत्या का सिद्धांत कानून के बनने के पश्चात् ही प्रतिपादित हुआ। इन दो विपरीत मतों से पहले धार्मिक नियम हुए या आपराधिक नियम, इस रहस्य को उद्घाटित करना कठिन है। मानव–वैज्ञानिकों ने आदि मानवों में भी एक प्रकार की व्यवस्था ढूँढ निकाली है। स्पष्ट है कि सामूहिक जीवन के आदि प्रस्फुटन के साथ सामूहिक जीवन को भली–भाँति नहीं तो शिथिल रूप से बिताने के लिए सदस्यों को जो नियम पालन करने पड़े, उनके फलस्वरूप उनकी आदि मान्यताओं के अनुरूप सर्वमान्य आचरणावली का भी उदय हुआ। यही आचरणावली कालांतर में धर्म की रूढ़ियाँ और कानून की भित्तियाँ बनीं। अतएव, विधि के आदि चिह्नों में मानव की सारी मान्यताएँ विद्यमान हैं।

धर्म की मान्यताओं के अनुरूप कानून बनते हैं। किसी भी धर्मनिरपेक्ष राज्य में किसी संप्रदाय की धार्मिक रीतियों के

अनुरूपी लेखक / संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- I, Issues-27, YEAR- Jan.-March-2023

विरुद्ध आचरण अपराध ठहराये जाते हैं। किसी–किसी राष्ट्र की तो धार्मिक मर्यादा ही उसके संगठन का आधार होती है। अतएव, धर्म के "पाप" और दंड–विधान के "अपराध" के बोध में मौलिक एवं तात्त्विक समानता है, यद्यपि इन बोधों की प्रयोज्यता तथा श्रेणियों में विभिन्नता है।

अपराध और प्रथा– सामाजिक प्रथाओं के मनन से अपराध के सम्यक् मूल्यांकन में यथेष्ट सहायता मिलती हैं। वर्ग और जाति प्रथाओं का कोई कानूनी आधार नहीं होता, फिर भी समाज इन्हें अपनाता और दैनिक जीवन में बरतता भी है। सभ्यता, शिष्टता तथा सुशील व्यवहारों के आदर्श मनुष्य को अपने जीवन को सामाजिक जीवन में ढालने के लिए विवश करते हैं और मनुष्य कितना भी अपने व्यसनों तथा चिंताओं में डूबा रहता है, वह समाज की इन मर्यादाओं को भरसक निभाता ही है। रस्म–रिवाज, रीति–प्रथा के विभिन्न नियम होते हैं। एचॉ कंत्रविज्ञ, जर्मन विधिविद् ने इन नियमों को कई श्रेणियों में बाँटा है, जैसे, उपहार देने, अभिवादन करने, वार्तालाप करने, उत्सवों में भाग लेने, यौन–संबंधी सीमाओं को पालने आदि–आदि से संबंधित विविध शिष्टताएँ होती हैं। इन्हें कभी–कभी आपदकालीन स्थितियों में, विशेषतः जब युद्ध छिड़ जाता है, तब आपराधिक मान्यता भी प्राप्त हो जाती है और शिष्टता के नियम कानून बन जाते हैं।

उदाहरणतः शिष्ट व्यवहार के अंतर्गत यह अपेक्षित होता है कि दुकानों पर क्रय करनेवालों को भीड़ नहीं लगानी चाहिए, एक पंक्ति में खड़े होकर सामग्रियाँ प्राप्त करनी चाहिए । युद्धकाल में यह मात्र शिष्ट आचरण न रहकर कानून हो जाता है, चूँकि सामग्रियों के वितरण पर प्रतिबंध तथा नियम लगा दिए जाते हैं और जिनका अतिक्रमण करना दंडनीय हो जाता है। इस प्रकार, साधारणतया कोई भी शिष्टाचार अपराध की कोटि में रख दिया जा सकता है। विवाहोत्सव में उपहार देना बिल्कुल ही शिष्ट है, परंतु इसकी भी सीमा निर्धारित कर दी जा सकती है और उपहार देने तथा लेनेवालों को इस सीमा के उल्लंघन के फलस्वरूप दंडित किया जा सकता है। अत्यंत ही प्रचलित दहेज प्रथा को स्वतंत्र भारत ने ऐसी ही सीमा में आबद्ध कर दिया है। इसी प्रकार, जो कुछ व्यावसायिक शिष्टताएँ होती हैं, वे भी अपराध का रूप ले लेती हैं। जैसे, क्रयों का आदान–प्रदान अनुबंध के निबंधन बिना भी संपन्न होता है, परंतु इस आदान–प्रदान के क्रम में यदि किसी ने विश्वासघात कर दिया, तब वह गबन का भी भागी बन जा सकता है और विधिवत् न्यायालयों द्वारा दंडित भी किया जा सकता है। प्रथा और कानून का ऐसा सम्मिश्रण रहता है कि एक को दूसरे से विलगाना अत्यंत ही कठिन है।

कभी तो प्रथा ही इतनी प्रबल होती है कि विधायक इसे नियमाबद्ध कर देते हैं या जब कभी किसी सर्वमान्य प्रचलन में प्रवर्त्तन की क्षमता क्षीण हो जाती है, कानून के रूप में प्रवर्तन किया जाता है या कानूनी प्रतिबंधों के रहने पर भी प्रथाएँ अक्षुण्ण रह जाती हैं। अमेरिका में वर्ग–विभेद जोरदार प्रवर्त्तन के बावजूद विद्यमान है ही। कोई–कोई प्रथा अमानुषिक रहने पर भी लुप्त नहीं होती हैं, अभी भी कई समाजों में प्रकट है ही। लार्ड विलियम बेंटिंक द्वारा सती प्रथा बहिष्कृति या मल्ल–युद्ध, जिससे समाज द्वारा निश्चित अहिंसा के मानदंड टूटते को अवैध किए जाने पर पति की चिता पर स्त्रियों का जलाना बंद हो गया, परंतु इसके बाद भी, यदा–कदा, अभी भी स्त्रियाँ ऐसा कर अपने को चमत्कृत करती हैं और समाज भी ऐसी स्त्रियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। प्रथा का इतना उग्र प्रभाव पड़ता है कि "प्रथा को सर्वशक्तिमान", कहना असंगत नहीं, इसकी व्याप्ति तथा ग्राह्यता कारण अपराध भी क्षम्य हो जाता है, उसकी दृष्टियों में जिनके लिए विधियाँ पारित होती हैं ।[4] सन् 1928 ईं में भारत में शारदा अधिनियम के द्वारा बाल–विवाह अवैध हो गया, परंतु अभी भी यह प्रचलित है ही। इसका अर्थ यह निकलता है कि सामाजिक मान्यता प्रथाओं का पोषण करती है और जहाँ यह प्रबल होती है, वहाँ आपराधिक विधि इसके प्रतिकूल प्रवर्त्त नहीं हो सकी है।

प्रथा और विधि दोनों का बाह्य रूप से पालन किया जाता है, जबकि नीतियाँ आंतरिक रूप से पाली जाती हैं। इस दृष्टि से प्रथा और विधि समान हैं, परंतु दोनों में अंतर नहीं होते हैं। जहाँ प्रथा किसी क्षेत्र तक सीमित रहती है अर्थात् किसी विशिष्ट क्षेत्र के जन समुदाय द्वारा मान्य एवं व्यवहृत रहती है, वहाँ विधि किसी संपूर्ण राज्य के लिए मान्य होती है, जिस राज्य में प्रथाओं के आधार पर विभिन्न क्षेत्रीय इकाइयाँ अवस्थित होती हैं। दूसरा, यद्यपि प्रथा और विधि दोनों का बाह्य रूप से अनुपालन होता है, प्रथा को लागू करने के लिए वैसा शक्तिशाली तथा व्यवस्थित तंत्र नहीं होता है, जैसा विधि को प्राप्त रहता है। प्रथा जनमत द्वारा ही लागू होती है अर्थात् इसका प्रसार जनसंख्या के बहुमत पर अवलम्बित रहता है, जबकि विधि के लिए आरक्षण तथा दंडन की सतत् क्रियाशील प्रणाली कार्यरत रहती है।

तीसरा, कभी–कभी अमानुषिक प्रथाएँ ही अपराध को जन्म देती हैं, वर्ण, जाति के भेद को लेकर अनेकानेक दंगे, फसाद, सामूहिक हत्या की घटनाएँ हुई हैं।[5] महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के प्रांगण में इस युग में एक प्रथा चल गई है कि वरीय शिक्षार्थी नवागंतुक शिक्षार्थी को कई प्रकार की तारणा देते हैं। इस प्रथा का उद्देश्य होता कि नवगंतुक शिक्षार्थी की झिझक तथा लज्जा जाती रहे और लोगों का मनोविनोद हो, परंतु बहुधा ताड़णाएँ हिंसा का रूप ले लेती हैं और यह प्रथा सामूहिक मनोविनोद न होकर आयोजित हिंसा हो जाती है और अपराध घटित हो जाता है। जो भी हो, अपराध–विज्ञान के

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-16, No.- I, Issues-27, YEAR- Jan.-March-2023

लिए किसी प्रथा के औचित्य या अनौचित्य का निर्धारण करना अपेक्षित नहीं, वरन् यह जानना आवश्यक होता है कि अपराध के प्रति समाज किस–किस मानदंड से ग्रहणशील होता है और किस–किस मूल प्रेरणा से अपराध पारिभाषित होता है और किस–किस माध्यम से अपराध का नियंत्रण किया जा सकता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, यह निर्विवाद है पर उसके इस रूप में विकसित होने का श्रेय किसी एक ही उपकरण को प्राप्त नहीं है। अपराध भी इसी सामाजिक प्राणी की क्रिया है, अतएव इसके उद्भव, बोध तथा निर्धारण के कई कारक होते हैं : अपराध–विज्ञान इन्हीं कारकों का समग्र अध्ययन करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मैनहम, हरमन, कम्परेटिव क्रिमिनालॉजी, पृष्ठ 35.
2. सर हेनरी समर मेन–ऐसियट लॉ–1871.
3. क्रयमंड प्रिमिटिव लॉ तथा विलियम सींग्ल–इन क्येष्ट ऑफ लॉ ।
4. मैनहम, हरमन, कम्परेटिव क्रिमिनालॉजी, पृष्ठ 38.
5. वही, पृष्ठ–31.

*****